

बड़ों की दुनिया में बच्चे बनाम ‘मेरे दोस्त का घर’

निशा नाग

ईरानी फ़िल्म *खानेह दोस्त कोजास्त* यानी ‘मेरे दोस्त का घर’ केवल अहमद का एक गाँव से दूसरे गाँव तक का सफ़र ही नहीं है, बल्कि बच्चों के प्रति वयस्कों या समाज के बड़े-बूढ़ों का रवैया, उनके विचार, बच्चों पर अधिकार भाव और पितृसत्तात्मक समाज में बच्चों की उस स्थिति को बताती है जो भविष्य में बच्चे को उसी बँधे-बँधाए साँचे में ढलने पर मजबूर कर देती है, जबकि मूल रूप से बच्चे मानवीय मूल्यों के साथ निःस्वार्थ भाव से अपनी ज़िम्मेदारी का एहसास रखते हैं। सं.



फ़िल्म समीक्षा— ‘खानेह दोस्त कोजास्त’

निर्माण— 1987, अवधि— 87 मिनट

निर्देशक— अब्बास कियारोस्तमी (ईरान)

विश्वविद्यालय में सामने से हँसती खिलखिलाती छात्राओं का एक समूह चला आ रहा था। जिस चीज़ ने मेरा ध्यान आकर्षित किया वह एक छात्रा की टी-शर्ट पर लिखी हुई इबारत थी जो इस प्रकार थी : “I was born intellectual but education ruined me”, इस पंक्ति ने सोचने पर मजबूर कर दिया, क्या सचमुच? इसी सन्दर्भ में मुझे एक पुस्तक याद आ रही है इंस्टीट्यूट ऑफ़ कल्चर एक्शन की डेज़र स्कूल जो पाठशाला के अन्तर्विरोधों से परिचय कराती है। यह पुस्तक बताती है कि स्कूल किस तरह निजी स्वार्थ और प्रतियोगिता की भावना को बढ़ाते हैं साथ-ही-साथ ही ये स्कूल रौब और आदेशों का चुपचाप पालन करना सिखाते हैं। अगर ऐसा है तब बच्चों की दुनिया में बड़ों या उन संस्थाओं का क्या महत्त्व है जो उन्हें नियंत्रित करती हैं या अनुशासन सिखाने का दावा करती हैं और भविष्य का रास्ता दिखाती हैं। एक बांग्ला कहावत के अनुसार, ‘बच्चा पैदा होता है, पर उसे मानुस बनाया जाता है’, यानी बच्चे का शैशव और बचपन छोड़कर वयस्कों की दुनिया में शामिल होना समाज के ऊपर निर्भर है। पर उस वयस्क बनने या बनाने की प्रक्रिया में कहीं कुछ ऐसा है कि बच्चा अपने बचपन के सपने,

इच्छाओं, मनसूबों और दरियादिली से दूर हो जाता है। इस बात को अब्बास कियारोस्तमी की ईरानी फ़िल्म *खानेह दोस्त कोजास्त* यानी ‘मेरे दोस्त का घर’ (जिसका अंग्रेज़ी रूपान्तरण ‘Where is the Friend’s Home?’ है) के द्वारा गहराई से समझा जा सकता है।



अब्बास कियारोस्तमी (1940-2016) जाने माने ईरानी फ़िल्म निदेशक, पटकथा लेखक, कवि, फ़ोटोग्राफ़र तथा फ़िल्म निर्माता रहे हैं। इन्होंने लगभग चालीस फ़िल्मों का निर्माण किया। और ईरानी सिनेमा को विश्व पटल पर महत्त्वपूर्ण पहचान दिलाई। लगभग 87 मिनट की ‘मेरे दोस्त का घर’ 1987 में बनी प्रसिद्ध फ़िल्म है। यह फ़िल्म ‘कोकर त्रयी’ यानी ईरान के कोकर प्रदेश (जो उत्तरी ईरान का एक छोटा-सा गाँव है) में फ़िल्माई गई तीन फ़िल्मों में से एक है। बाकी दो फ़िल्में— *And Life Goes On* (92) एवं *Through the Olive Trees* (94) भी मील का पत्थर हैं, पर फ़िलहाल चर्चा ‘दोस्त का घर’ पर की जा रही है। यह भी एक इत्फ़ाक़ है कि सत्यजित रे ने *अप्पू त्रयी* का निर्माण किया था और कियारोस्तमी ने कोकर त्रयी का। यह अनायास नहीं है कि सिनेमा जगत से सत्यजित रे के अवसान के बाद जापान के जाने माने सिनेमा निर्माता-निर्देशक ने उस खाली जगह की पूर्ति की सम्भावना अब्बास कियारोस्तमी द्वारा सम्भव बताई थी। अब्बास की सभी फ़िल्में यथार्थ और कथा के बीच एक महीन रेखा से जुड़ी हुई हैं। फ़िल्म ‘दोस्त का घर’ की कहानी ऊपरी तौर पर बहुत ही सीधी लगती है और बस इतनी भर है कि लगभग आठ वर्षीय अहमद (इस

किरदार को बाबेक अहमद पूर ने निभाया है) ग़लती से अपने स्कूल के साथी की कॉपी अपने बैग में रखकर साथ ले आता है और वह उसे दोस्त को वापिस लौटाना चाहता है ताकि दोस्त उसपर अपना गृहकार्य कर सके और उसे स्कूल में प्रताड़ित न होना पड़े। वह यह जानता है कि उसके मित्र का घर कौन-से गाँव में है, पर ठीक से मित्र के घर का पता नहीं जानता। हालाँकि मित्र का गाँव उसके घर से दूर है पर फिर भी वह निश्चय करता है कि वह किसी भी हालत में दोस्त की कॉपी वापिस लौटाएगा ताकि दोस्त को अगले दिन पाठशाला में ज़लील न होना पड़े। अहमद अपने गाँव कोकर से पोस्तेह यानी मोहम्मद रज़ा के गाँव तक का सफ़र तय करता है। परन्तु इस नन्ही-सी यात्रा कथा में एक बच्चे की समस्त सम्भावनाएँ, इच्छाएँ, उसके भीतर दोस्त की चिन्ता तथा ज़िम्मेदारी का भाव निहित है। यह फ़िल्म केवल अहमद का एक गाँव से दूसरे गाँव तक का सफ़र ही नहीं है, बल्कि बच्चों के प्रति वयस्कों या समाज के बड़े-बूढ़ों का रवैया, उनके विचार, बच्चों पर अधिकार भाव और पितृसत्तात्मक समाज में बच्चों की उस स्थिति को बताती है जो भविष्य में बच्चे को उसी बँधे-बँधाएँ साँचे में ढलने पर मजबूर कर



देती है, जबकि मूल रूप से बच्चे मानवीय मूल्यों के साथ निःस्वार्थ भाव से अपनी ज़िम्मेदारी का एहसास रखते हैं। एक समाज बच्चों से क्या चाहता है?— यही कि वे बेहतर इंसान बनें, नैतिक मूल्यों को अपनाएँ, उनपर चलें, कर्तव्यों का पालन करें, एक दूसरे का ध्यान रखें अर्थात् सह-अस्तित्व से ज़िन्दगी को जीएँ। लेकिन क्या बच्चों को गम्भीरता से लिया जाता है? फ़िल्म

में अहमद जब अपने दोस्त मोहम्मद रज़ा का घर ढूँढ़ने निकलता है तो रास्ते में वह जिससे भी दोस्त के घर और उसे ढूँढ़ने के विषय में बात करता है वही उसकी बात को गम्भीरता से नहीं लेता। किसी के लिए भी उस नोटबुक का कोई महत्त्व नहीं जिसे वह लौटाना चाहता है।



यहाँ तक कि स्कूल से वापिस लौटने पर जब वह यह पाता है कि मित्र की कॉपी उसके पास है और उसे लौटाना ज़रूरी है, तो वह आँगन में कपड़े धोती अपनी माँ के पास जाता है। माँ निरन्तर अपने कामों में मशगूल है। यहाँ हैण्डपम्प से पानी निकालती और तसले में साबुन लगाकर व तार पर कपड़े सुखाती माँ ठीक वही एहसास देती है जो भारतीय घरों की माँओं की स्थिति है। माँ को अहमद कई बार अपने मित्र की कॉपी लौटाने की बात कहता है। पहले तो माँ ध्यान ही नहीं देती और जब थोड़ा सुनती भी है तो बड़े ही बेपरवाह तरीक़े से कहती है, “कल दे देना”। पर अहमद अपनी ओर से माँ को पूरी तरह समझाना चाहता है कि कॉपी देना बहुत ज़रूरी है। वह दोनों कॉपियों को दिखाकर कहता है कि दोनों एक-सी हैं अतः उससे भूलवश कॉपी उसके बैग में साथ आ गई है। अगर उसने कॉपी नहीं दी तो मित्र गृहकार्य नहीं कर पाएगा और दोस्त को स्कूल में सज़ा मिलेगी, और हो सकता है उसे स्कूल से बाहर कर दिया जाए। माँ के लिए इस बात का कोई महत्त्व नहीं है। वह कहती है कि उसे लापरवाही की सज़ा मिलनी ही चाहिए। बच्चे की भूल को ग़लती समझा जाना हमारे समाज की एक बड़ी समस्या है। यहाँ कई प्रश्न एक साथ उठते हैं। पहला तो यह कि अगर मोहम्मद रज़ा अध्यापक से सच-सच बताए कि कॉपी भूलवश अहमद के साथ चली गई थी इसलिए वह गृहकार्य नहीं कर पाया तो क्या अध्यापक उसे मोहम्मद की ग़लती नहीं मानेगा? जो कि

ग़लती है भी नहीं। क्या वह उसे क्षमा कर देगा? अध्यापक का रुख जिस तरह का है, उसे देखकर कहीं से भी नहीं लगता कि वह बच्चों के अन्तर्मन को समझने की किसी तरह से कोशिश करता है। बच्चों का उससे कोई संवाद नहीं है। लगभग सभी स्कूलों में अध्यापकों का यही हाल है।

स्कूलों में बच्चों को अनुशासित किया जाता है, उन्हें चुप रहने का उपदेश दिया जाता है, परन्तु किसी हद तक जाकर यह शासन नहीं बल्कि शोषण में तब्दील होता दिखाई देता है जहाँ बच्चे उन्मुक्त भाव से अपनी बात को, अपनी सच्चाई को अध्यापक के सामने नहीं रख पाते और बिना शरारत किए ही सज़ा के पात्र बनते रहते हैं। कक्षा में केवल अध्यापक ही बोलता है यहाँ कियारोस्तमी इसे और स्पष्ट करते हैं कि एकतरफ़ा संवाद बच्चों को विरासत में मिलता है। अगर वह अध्यापक से प्रतिप्रश्न करना चाहें तो इसके बदले में उन्हें मार और डाँट का शिकार होना पड़ता है। जबकि स्वस्थ विकास के लिए सम्प्रेषण की प्रक्रिया दोहरी होनी ज़रूरी है— कक्षा में भी और कक्षा से बाहर भी। न केवल स्कूल बल्कि घर में भी बच्चों की यही स्थिति है। उन्हें चुप रहने की ताक़ीद दी जाती है। अगर किसी हद तक बच्चों का बोलना बड़ों को अच्छा लगता है तो वहीं तक कि जब वह तोतली बोली में बड़ों के मनोरंजन का केन्द्र होता है, तब बार-बार उससे कोई बात बुलवाकर आनन्द लिया जाता है। लेकिन

जैसे ही बच्चा तर्क करता है या प्रतिप्रश्न करता है तो उसे डपटकर चुप करवा दिया जाता है, ठीक वैसे ही जैसे घर के कामकाज में फँसी हुई अहमद की माँ अहमद की कोई बात और तर्क नहीं सुनती। अहमद के बार-बार अनुरोध करने पर वह पूछती है, “दोस्त का घर कहाँ है?” तो अहमद उत्तर देता है, “पोश्तेह”। इसपर माँ कहती है, “पोश्तेह तो बहुत दूर है।” पर अहमद कहता है, “ऐसा भी दूर नहीं, रोज़ न जाने कितने बच्चे पोश्तेह से उसके गाँव स्कूल में पढ़ने आते हैं”, पर माँ मानने को तैयार नहीं। अहमद के बार-बार अनुरोध करने का माँ पर कोई असर नहीं पड़ता, बल्कि वह केवल घर के कामों में मशगूल है और अहमद को कहती है, “कहना मानो, नहीं तो तुम्हारे पिता आकर तुम्हें देखेंगे। चुपचाप अपना स्कूल का काम करो। तुम्हें ब्रेड लेने भी जाना है।” अहमद की छोटी बहन, जो कपड़े के झूले में सो रही है, जब कुनमुनाने लगती है तो माँ अहमद को उसे देखने को कहती है और अहमद को घर के ऊपरी हिस्से में दूध लेने भेजती है। माँ के लिए इस बात का कोई महत्त्व नहीं है कि अहमद अपने दोस्त को लेकर कितना संजीदा है।

कुछ देर बाद अहमद संकल्प करके ब्रेड लेने के बहाने घर से बाहर निकलता है। वह कॉपी को अपने स्वेटर में छिपा लेता है। यही वह समाज है जो बच्चों के सच को सच न मानकर झूठ मानता है और बच्चों को भी झूठ बोलने के लिए मजबूर कर देता है, ठीक जैनेन्द्र की कहानी ‘पाज़ेब’ के आशुतोष की तरह जिसका कोई यक़ीन नहीं करता कि उसने अपनी बहन की पाज़ेब को देखा भी नहीं है और पिता के बार-बार पूछने पर उसकी सरल मानसिकता उलझने लगती है और वह झूठ बोलने लगता है। अहमद दोस्त के घर की खोज के दौरान जिन-जिन लोगों से मिलता है वह परम्परागत ईरान की ही नहीं बल्कि पूरे वैश्विक समाज की मानसिकता और बच्चों के प्रति उनकी मानसिकता का पता देता है।

फ़िल्म एक प्रतीक है। सोहराब सेपेहरी की एक कविता ‘खानेहे दुस्त कोजास्त’ से इस फ़िल्म का शीर्षक लिया गया है। फ़िल्म के भूगोल को समझने का महत्त्वपूर्ण ज़रिया है वह जैतून का पेड़ जो पहाड़ी के उत्तर में है (जिसका प्रतीक सेपेहरी की कविता में है)। वह अँग्रेज़ी के ‘Z’ आकार का टेढ़ा-मेढ़ा रास्ता और जैतून के पेड़ों का झुरमुट, जिसके बाद मोहम्मद रज़ा नेमात्देह का गाँव है, मानो अहमद का ही प्रतीक है। वह इतने लोगों के होते हुए भी अकेला है और उसे टेढ़े-मेढ़े रास्तों से गुज़रकर ही अपनी राह बनानी है। फ़िल्मकार यहाँ स्थान, समय और ज्ञान को अपनी तरह से रचता है पर उसका केन्द्र वह बच्चा है जो अब्बास की फ़िल्मों का चेहरा बन गया था। अहमद की इस खोज में अनेक लोग



आते हैं पर सब अपनी-अपनी तरह से व्यस्त हैं। वह बहुत-से लोगों से पूछता है, पोश्तेह गाँव की पथरीली टेढ़ी-मेढ़ी गलियों में भटकता है और जहाँ भी सम्भावना लगती है, वहीं अनेक दरवाज़ों पर जाकर दोस्त को आवाज़ देता है। एक जगह वह अपने स्कूल की वर्दी की पैंट सूखते देखता है तो पाता है कि वह घर उसके अपने स्कूल में ही छोटी कक्षा में पढ़ने वाले बच्चे का है। उससे यह जानकर, कि मोहम्मद रज़ा अपने पिता के साथ कोकर गाँव गया है, अहमद एक बार वापिस लौटता है जहाँ उसे अपने दादाजी अपने वयोवृद्ध मित्र के साथ बैठे हुए मिलते हैं। वह अहमद से सिगरेट मँगाते हैं और अहमद वापिस लौटता है। उनका अपने वयोवृद्ध मित्र के साथ होने वाला संवाद बड़ों

की बच्चों के प्रति व्यवहार का प्रतिबिम्ब है। वे कहते हैं कि छोटे बच्चों को अनुशासित रखने के लिए उन्हें पीटा जाना ज़रूरी है। वे जब छोटे थे उन्हें रोज़ पीटा जाता था इसीलिए वे इतने अनुशासित रह पाए। मित्र कहता है कि अगर बच्चे ने कोई ग़लती न की हो तब? तब उसे पीटने का बहाना बनाकर पीटा जाना चाहिए। उनके लिए बच्चों का पीटा जाना वैसे ही सहज है जैसे साँस लेना। इस नारकीसिज़्म में यह वृद्ध व्यक्ति या कोई भी यह नहीं देखता कि अहमद स्वयं अपने अनुभव से ही दया-भाव, अनुशासन, करुणा, सहानुभूति और संवेदना का विस्तार कर रहा है। यही कारण है कि वह उस दोस्त की कॉपी लौटाने के लिए तत्पर है, जो उसके घर से दूर है और जिसके घर का पता उसके पास नहीं है। वह नहीं चाहता कि उसका दोस्त प्रताड़ित हो या मार खाए या उसे स्कूल से निकालकर बाहर कर दिया जाए। दोस्त की जो चिन्ता उसे है शायद वह उसके भविष्य में बनने वाले व्यक्तित्व का आईना है।

बच्चे के विकास की उपलब्धियों को सामाजिक स्थिति की उपज माना गया है। वाइगोत्स्की का निष्कर्ष है कि बच्चे के बढ़ने के साथ-साथ उसके प्रति समाज की अपेक्षाएँ और व्यवहार का तरीका भी बदलते जाते हैं। विकास की सामाजिक स्थिति का अर्थ है सामाजिक सन्दर्भ और उस सन्दर्भ में बच्चे की प्रतिक्रियाएँ। लेकिन यहाँ हम यह भी देखते हैं कि अहमद आदान-प्रदान के जिस ढंग को अपनाता है वह उसकी अपनी समझ की देन है। वह माँ का कहना न मानकर मित्र की नोटबुक देने उसके गाँव की ओर चल पड़ता है। लेकिन क्या उसके इस व्यवहार को अवज्ञा माना जाए? क्या वह सज़ा पाने का हक़दार है? नहीं। इसीलिए अब्बास उसके देर साँझ गए घर लौटने पर माता-पिता की कोई प्रतिक्रिया नहीं दिखाते।

पिता रेडियो के साथ व्यस्त हैं और माँ गृहकार्य में। माँ उसका खाना उसे देकर अन्य कार्यों में व्यस्त हो जाती है। वह चुपचाप घर में आता है और एक महत्त्वपूर्ण निर्णय लेता है। वह अपना गृहकार्य देर रात तक करता रहता है। और अगली सुबह स्कूल पहुँचकर मास्टरजी के मित्र की सीट पर पहुँचने से पहले ही उसकी नोटबुक उसकी डेस्क पर रख देता है। मास्टरजी भी नोटबुक पर सही का निशान लगाकर हस्ताक्षर कर देते हैं क्योंकि अहमद ने देर रात तक जागकर अपने साथ-साथ अपने मित्र का भी गृहकार्य कर दिया था। यह शिक्षा की उस यांत्रिकता की ओर भी इंगित करता है जहाँ शिक्षकों को केवल गृहकार्य या प्रोजेक्ट तैयार चाहिए, चाहे वह किसी ने भी किया हो या कहीं से भी बनवाया हुआ हो। दूसरे शिक्षक के रूप में बच्चों के अनुभव के साथ घनिष्ठता विकसित करने की ज़रूरत नहीं समझी जाती।

यह फ़िल्म बच्चों की अच्छाइयों में विश्वास रखना सिखाती है। बच्चों को सरलीकृत रूप में देखा जाता है न कि उनकी विशिष्टताओं को पहचाना जाता है। उन्हें वैसे ही देखा और परखा जाता है जैसा कि प्रौढ़ चाहते हैं, जबकि हर बच्चा स्वाभाविक रूप से विवेकशील और यथार्थवादी होता है। अकसर बच्चों की इच्छा का सम्मान नहीं किया जाता। यह सोचा जाता है कि वह वैसे ही करे जैसा उसके अभिभावक चाहते हैं। म्याल (Mayalla, Elementary Education, 1996) के अनुसार, बाल्यावस्था के बारे में प्रौढ़ों की समझ तय करती है कि बच्चे क्या हैं और उन्हें कैसा होना चाहिए। बच्चों का जीवन बाल्यावस्था की इसी समझ के माध्यम से जिया जाता है। प्रश्न निरंकुशता का नहीं है परन्तु बच्चे स्वविवेक भी रखते हैं। प्रस्तुत फ़िल्म हमसे यही कहती है।

डॉ. निशा नाग हिन्दी में एमफिल, पीएचडी हैं। विभिन्न साहित्यिक पत्रिकाओं में आपकी समीक्षाएँ, लेख व कहानियाँ प्रकाशित होती रहती हैं। मिरांडा हाउस, दिल्ली विश्वविद्यालय में वरिष्ठ प्रवक्ता हैं जहाँ वे पिछले 23 वर्षों से अध्यापन कर रही हैं।

सम्पर्क : nishanagpurohit@gmail.com